दिग्विजयी दयानन्द

[ले०—श्री आचार्य रामदेवजी]

महर्षि स्वामी दयानन्द उन महापुरुषों में से हैं जिनका जन्म इस भारत-भूमि में समय २ पर हुआ है। अद्वितीय विद्वान् श्री शंकराचार्य की मृत्यु के अनन्तर ऐसा प्रतीत होता था कि यह—पुण्यभूमि महान् पुरुषों के उत्पन्न करने की क्षमता से रहित हो चुकी है, परन्तु ऋषि दयानन्द ने आकर इस भ्रान्ति को निर्मूल प्रमाणित किया। निःसन्देह यह वीर-प्रसविनी भारतमाता आजतक अपने गर्भ से विश्व के पथ-प्रदर्शक-अग्रणी नेताओं को उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखती है।

भारतीय साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी को यह अच्छी तरह विदित है कि इस देश में महापुरुषों का जन्म एक विशेष सामाजिक नियम से नियमित है। इस नियम का अन्वेषण हम भारतवर्ष के इतिहास में स्थान २ पर कर सकते हैं।

जब आर्यावर्त्त में कोरे कर्मकाण्ड की घृणित प्रथाओं ने धार्मिक जीवन को हीनावस्था में पहुंचा दिया, जब यह देश निस्सार विधिवाद में पड़कर केवल बाह्याचार के परिपालन में अपनी इति कर्त्तव्यता मानने लगा जब उपनिषद्, रामायण भगवद्गीता के महान् पवित्र उपदेशों का स्थान, जघन्य, स्वार्थ परायण तथा कुत्सित प्रणालियों तथा पद्धतियों ने ले लिया जब ब्राह्मण अपने उच्च वेदविहित कर्त्तव्यों को ताक में रख कर वैदिक आदर्शों पर कुल्हाड़ा चला कर वेद के नाम पर ही संसार को पथभ्रष्ट करने में अग्रसर हो गये और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" कह कर यज्ञों में निर्दोष, निरीह पशुओं का निर्दयता से वध करवाने लगे तब प्राचीन विलुप्त भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवन करने के लिये इस भारत-भूमि में महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ।

महात्मा बुद्ध अनीश्वरवादी अथवा वेदनिन्दक न थे। जैसा कि कई पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश अपना सिद्धान्त बना लिया है। वास्तव में जैसा कि आर्थर-लिली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "बुद्धिज्म इन क्रिस्टन्डम" के पृष्ठ ५७ पर उल्लेख किया है, बौद्धधर्म अन्य कोई नवीन धर्म न था अपितु केवल उत्कृष्ट ब्राह्मणों का निकृष्ट ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोहमात्र था। महात्मा बुद्ध ने स्वयं "सुत्त निपात" में इसी तथ्य का कथन किया है कि प्राचीन सत्य धर्म का पुनरुत्थान, पुनरुद्धार करना ही उनके प्रचार का उद्देश्य था। उनका ब्राह्मणों के सम्बन्ध में यह आदर-पूर्ण वचन "कि वे तपस्या से अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा संयम-पूर्वक सदाचार का पालन करते थे एवं यज्ञों में पशुओं की बलि कदापि न देते। तथा प्राणिमात्र का उपकार करने वाले थे" इसी सत्य को प्रमाणित करता है महात्मा बुद्धदेव केवल विलुप्त धर्ममर्यादा को पुनः स्थापित करने के लिये इस संसार में उत्पन्न हुए थे। उनका अभिप्राय किसी नवीन मत या सम्प्रदाय को चलाने का कभी न था।

'युग्गसूत्त' में भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मोपासना का वर्णन किया है और अपने शिष्य वशिष्ठ को कहा है कि-मैं ब्रह्म को जानता हूं, उसके बनाये संसार को जानता हूं

तथा उस मार्ग को भी जानता हूँ जिस से उस ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।"

निस्सन्देह महात्मा बुद्ध ब्रह्मदर्शी थे, परन्तु साधारण जनता अज्ञान के अन्धकार में गहरी नींद सो रही थी। उन्हें अपने धर्म का लेशमात्र भी परिचय न था। सदाचार के सच्चे मार्ग से गिर कर सूखे तर्क तथा वितण्डावाद में सब कोई अपना समय नष्ट कर रहा था।

साधना के बिना धर्म का वास्तविक परिज्ञान उन से कोसों दूर था। वे दार्शनिक गम्भीर तत्त्वों पर गम्भीर विवाद करते थे। सूक्ष्म अध्यात्मवाद के गहन तथ्यों पर गवेषणा पूर्ण विचार करते थे। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों पर लम्बे २ व्याख्यान करते थे, परन्तु तत्कालीन पण्डितम्मन्य व्याख्याता परमात्म तत्व से उतने ही दूर थे जितने सांसारिक विलास-प्रिय मूर्ख लोग। महात्मा बुद्ध इन अविद्याग्रस्त मूढ़ पण्डितों पर दया-दृष्टि से देखते, और मन ही मन सोचते कि इन पथभ्रष्ट-अभिमानी कर्महीन नर एवं नारियों का कल्याण किस तरह हो सकेगा। अपने धर्म प्रचार के प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध ने प्राचीन ऋषियों की शैली का अनुसरण किया। उपनिषद्-काल में गुरु केवल योग्य जिज्ञासु शिष्य को ही ब्रह्म विद्या तथा योग-ज्ञान का उपदेश देते थे। बुद्ध ने भी सर्व प्रथम उन्हीं विशेष व्यक्तियों को अपने धर्म में दीक्षित किया जो सचमुच उस दीक्षा के अधिकारी हो सकते थे। वसिष्ठ सूत्र तथा मनुस्मृति में विद्या-दान उसी शिष्य के लिये उचित बतलाया गया है जो शुचि, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचारी तथा गुरु का सत्कार करने वाला हो। अभिप्राय यह है कि—भगवान् बुद्ध प्राचीन आचार्यों की शिक्षा-प्रणाली का सम्मान करते थे। और उसी को अपने धर्म-प्रचार में श्रेयस्कर मार्ग स्वीकार करते थे।

महात्मा बुद्ध ने अपने व्याख्यानों में दार्शनिक सूक्ष्मताओं को दूर रक्खा और केवल सदाचार मार्ग पर बल दिया। वे इस बात को अच्छी तरह अनुभव करते थे कि भारतवासी पापाचरण में लिप्त होने के कारण अधोगति के अन्धकारमय गर्त्त में गिरते जा रहे थे और उन्हें बचाने का केवल उपाय यही था कि धर्म के आचारसम्बन्धी स्वरूप को अच्छी तरह समझें तथा उसका पालन करें।

परन्तु महात्मा बुद्ध की दार्शनिक सूक्ष्मताओं को दूर रखने के कई दुष्परिणाम भी हुए। सब से बड़ा बुरा परिणाम यह हुआ कि लोगों ने दार्शनिक विषयों पर अपने मन-घड़न्त मन्तव्य निश्चित कर लिये और उन्हें महात्मा बुद्ध के नाम मढ़ दिया। जो कोई उठा उसने आत्मा, परमात्मा आदि अदृश्य तत्त्वों के सम्बन्ध में अपने वैयक्तिक विचार प्रकाशित किये और उन्हें बौद्धधर्म के सिद्धान्त के तौर पर प्रसिद्ध कर दिया। यहां केवल एकही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। महात्मा बुद्ध ने अपने सब लेखों तथा व्याख्यानों में कहीं भी आत्मा की सत्ता से इन्कार नहीं किया, परन्तु उसके अनुयायियों ने पीछे चलकर इस सिद्धान्त को बुद्ध का सिद्धान्त कह कर मशहूर कर दिया। श्रीमती राईस डेविड-जो बुद्ध-धर्म पर प्रामाणिक लेखिका हैं—ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि दार्शनिक क्षेत्र में महात्मा बुद्ध के मौन ने पीछे कई अनर्थ उत्पन्न किये हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने बीस वर्ष पूर्व ही इस सचाई पर अपने लेखों में प्रकाश डाला था।

इसमें अब तनिक भी सन्देह नहीं कि वर्त्तमान बौद्धधर्म वह असली बौद्धधर्म नहीं, जिसका प्रारम्भ महात्मा बुद्ध ने किया था। वर्त्तमान बौद्धधर्म तो भिक्षुओं तथा भिक्षु-सभाओं से परिवर्त्तित तथा परिवर्द्धित धर्म है। जिस प्रकार ईसाईधर्म अपने शुद्ध-स्वभाव से कलुषित होकर आज केवल गिरजाधर्म रह गया है, इसी प्रकार बौद्धधर्म भी अपने मौलिक स्वरूप को छोड़कर केवल भिक्षुधर्म में परिणत हो गया है।

शनैः २ इस कलुषित धर्म में नास्तिकता, संशयवाद, निराशावाद तथा शून्यवाद आदि प्रवृत्तियों ने प्रवेश किया। इनसे साधारण जनता में केवल व्यामोह मात्र उत्पन्न हो गया। वे सत्य-मार्ग का परित्याग कर के अन्धकार में भटकने लगे। कोई मूर्त्तियों की पूजा करने लगा, कोई अनात्म-वाद के चक्र में पड़कर परोपकार आदि सत्कर्मों को ढकोसलामात्र बतलाने लगा, कोई परलोक को केवल मिथ्याकल्पना कहने लगा — अभिप्राय यह है कि जिसको जो सूझा, उसी को बौद्ध धर्म का मन्तव्य कह कर अपने को तथा अन्य अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट करने लगा।

बौद्ध-धर्म की इन बढ़ती हुई प्रवृत्तियों ने देश की राजनैतिक उन्नति में अनेक बाधाएं उपस्थित कीं। मिथ्या भाग्यवाद और वैराग्यवाद ने भारतवासियों को अकर्मण्य बना दिया। वे अपने सब कार्यों में किस्मत वा दैव का हाथ देखते थे और स्वयं अध्यवसाय अथवा परिश्रम से कोई कार्य न करना चाहते थे। यही कारण है कि भारत का विशाल साम्राज्य जिसकी स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने की और जिसका संगठन सम्राट् अशोक ने किया, बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ २ ह्रास को प्राप्त हो गया। इस सम्राज्य का पुनरुत्थान तभी हो सका जब पुनः वैदिक-धर्म ने समुद्रगुप्त के समय में अपना सिर ऊंचा किया। बौद्ध धर्म तो प्रायः राजनैतिक अवनति का पर्य्याय शब्द प्रतीत होता है। जापान तथा चीन में शुद्ध बौद्ध धर्म का न होना ही उनकी राजनैतिक उन्नति का कारण है। तिब्बत इस सत्यता का दृष्टान्त है कि इस सुव्यवस्थित छोटे से देश ने प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुकूल होने पर भी केवल बौद्धधर्म की अकर्मण्यता के कारण राजनीति-मय जगत् में कोई प्रतिष्ठायोग्य स्थान प्राप्त नहीं किया है।

बौद्धधर्म की इन अकर्मण्य प्रवृत्तियों का प्रतिवाद शंकराचार्य ने आकर किया। इस अद्वितीय विद्वान् ने अपनी प्रचण्ड विद्वत्ता तथा तर्क से बौद्धधर्म को भारतवर्ष से इस तरह बाहर निकाल दिया कि आज उसका नामतक भी इस देशमें उपलब्ध नहीं होता परन्तु शंकराचार्य ने एक बड़ी भारी भूल की—उसने अपने प्रचार का आधार केवल शुष्क तर्क तथा आदर्शवाद रखा। धर्म के प्राण-स्वरूप अंग सदाचार पर अपने व्याख्यानों में कहीं निर्देश तक न किया। फलतः भारतवर्ष फिर दार्शनिक मीमांसाओं में व्यस्त हो गया। तथा धर्म के सच्चे तत्त्व से सर्वथा पराङ्मुख हो गया।

यदि संसार में सचमुच सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म हो तो संसार की दुष्प्रवृत्तियां तथा दुष्कर्म भी ब्रह्म ही होजांय। वे भी इसी तरह ब्रह्म का भाग हों जिस तरह संसार की सत्प्रवृत्तियां तथा सत्कर्म। इस तर्कके अनुसार कोई भी दुष्कर्म तथा पाप परिहेय नहीं समझा जा सकता क्योंकि वे भी ब्रह्म ही हैं। परिणाम स्वरूप मनुष्य का शुभ कर्मों के लिये प्रयास करना सर्वथा

निष्फल हो जाता है और संसार में सदाचरण का कोई भी मूल्य नहीं रहता।

शंकर के वेदान्त ने एक अन्य दुष्परिणाम उत्पन्न किया। बौद्धधर्म की तरह ब्रह्मवाद ने भी लोगों में अकर्मण्यता के भाव पैदा कर दिये। वे प्रयत्नशीलता से विमुख हो गये और आत्म-सन्तोष से अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इस दारिद्र्य ने देश को पुनः अवनति के गर्त्त में पहुंचा दिया। ब्रह्म-विजेता इस भारतभूमि पर आये और इन्हें अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित करने में तनिक भी कठिनाई न हुई, क्यों कि यहीं के निवासी राजनैतिक स्वतन्त्रता वा परतन्त्रता में विवेक करना ही भूल चुके थे।

भारतवर्ष की इन अन्धकारमय शताब्दियों में नानक, कबीर, रामदेव तथा चैतन्य सदृश सन्त महात्माओं ने जन्म लिया और समय २ पर भाग्यवाद में पतित भारतवासियों को पुनः वैदिक आदर्शों की तरफ लाने का प्रयत्न किया। यदि इन महान् व्यक्तियों का आविर्भाव ऐसे कठिन समय में न होता तो निश्चय ही भारतवर्ष इस्लाम के प्रचण्ड झंझावात से सर्वथा अस्तव्यस्त हो जाता और आर्य संस्कृति का नाम तक इस देश में उपलब्ध न होता।

परन्तु इन सन्तों की दिव्य वाणियों में भी एक कमी रह गई। इन वाणियों ने भूले भटकतों को सन्मार्ग दिखाया और हिन्दुधर्म को लुप्त होने से बचा लिया। साधारण जनता अपने धर्म का पुनः आदर करने लगी और दृढ़ता से अपने पूर्वजों की मर्यादा की पालना करने लगी। केवल कमी थी तो इतनी कि उन्हें इन वाणियों से अपने धर्म की दार्शनिकता का बोध न हुआ।

अब शनैः २ पाश्चात्य-सभ्यता का आक्रमण इस देश पर होने लगा। ईसाई पादरियों ने आकर इस देश में शिक्षणालय खोले और उनके द्वारा देश के नव युवकों पर ईसाईधर्म का प्रभाव डालना शुरु किया। पादरियों ने हिन्दुधर्म के नग्न स्वरूप को कोमलहृदय बालकों के सामने उपस्थित किया और बतलाया कि इस धर्म में कितनी कुरीतियां, दुराचार तथा असम्भव कल्पनाएं प्रवेश कर चुकी हैं। पुराणों की अविश्वसनीय कथाओं का उल्लेख करके उन्होंने हिन्दुधर्म को एक असम्भव धर्म प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। अबोध बालकों ने पादरियों की इन चेष्टाओं का मर्म न समझा। उनके सामने बाईबिल के "सर्मन ओन दी मौंट" के सुन्दर उपदेश रक्खे गये और ईसाईधर्म का उत्कृष्ट स्वरूप प्रदर्शित किया गया। अशिक्षित तथा शिक्षित नवयुवक धड़ाधड़ अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर ईसाई धर्म में प्रविष्ट होने लगे। उन्हें स्वदेश की उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता जैसी पुस्तकों से घृणा होने लगी और "न्यू टेस्टेमेंट", की आयतों में अपना ध्यान लगाने लगे यदि इन अबोध नवयुवकों के सन्मुख ईसाई धर्म का पुराण अर्थात् 'ओल्ड टेस्टामेंट' रखा जाता तो निस्सन्देह इन्हें ईसाई धर्म से भी ग्लानि होती और अपने धर्मको छोड़ने का कोई विशेष कारण प्रतीत न होता, परन्तु ऐसा किस तरह होता। यह युग तो भ्रान्तियों और व्यामोह का युग था। लोग पथभ्रष्ट होकर अन्धकार में हाथ पैर मार रहे थे। कोई ज्योति मार्ग दिखाने वाली न थी। देश में सनातनधर्म का ह्रास दिनोंदिन होता जारहा था और इस ह्रास को रोकने वाला कोई प्रतीत न होता था।

परन्तु अन्धकार-मय रात्रि के बाद प्रकाशमय दिन का आना अनिवार्य होता है। शनैः २ शिक्षित समाज ईसाई धर्म के मर्म को समझा। ओल्ड टेस्टमेन्ट का परिचय भी क्रमशः बढ़ने लगा। ईसाई धर्म की पौराणिक कल्पनाएं हिन्दुधर्म की पौराणिक कल्पनाओं तथा गाथाओं से कहीं असम्भव तथा अविश्वसनीय थीं। अब लोगों को पता लगा कि नवीन धर्म की कहां तक स्वधर्म से उत्कृष्टता है। वे अपने किये पर पछताने लगे और शनैः २ पुनः अपनी सनातन मर्यादा से अनुराग दिखाने लगे। इस समय ब्रह्मसमाज ने जन्म लिया और भूले भटके नवयुवकों को फिर सन्मार्ग पर लाने का इसने आरम्भ में प्रशस्त प्रयत्न किया। परन्तु पीछे प्रवर्तक राजा राममोहनराय की आकांक्षाओं के विरुद्ध इस समाज ने अपनी प्रचार प्रणाली को परिवर्तित कर दिया और फलतः संशयवादिता तथा नास्तिकता ने ब्राह्मसमाज से दीक्षित नवयुवकों में प्रवेश कर लिया। पश्चिमीय प्रभाव में बहकर इस नवीन समाज ने प्राचीन आर्यसंस्कृति की रक्षा करना, अपना कर्तव्य न समझा और भारतीय आदर्शों को पुनः जीवित न किया। परिणामस्वरूप भारतवर्ष में इस धार्मिक संस्था का विशेष प्रचार न होसका।

इसी अस्तव्यस्तता में ब्राह्मण लोग अपनी मनमानी सिद्धि करने में तत्पर रहे। वे हिन्दुसमाज की रूढ़ियों की शृंखलाओं में जकड़ते जा रहे थे। पक्षपात के जटिल बन्धनों में उन्होंने सामाजिक शरीर को ऐसा बांध दिया था कि उसका आन्तरिक विकास सर्वथा रुक गया था। आंगल सभ्यता में शिक्षित नवयुवक भी इन्हीं ब्राह्मणों को अपना पुरोहित कहकर इनका अनुकरण कर रहे थे। वे मूर्तिपूजन तथा प्रतिमाराधन में कोई विशेष आपत्ति न मानते और चुपचाप चलती रीतियों पर चलना ही अपना कर्तव्य मानते थे।

परन्तु समाज का अन्तरात्मा वास्तव में अत्यन्त पीड़ित था। उसमें अनन्त कोलाहल था। वह उन विचारधाराओं से तरङ्गित होरहा था, जिन का ज्ञान केवल अन्तर्मुख तत्ववेत्ताओं को था वा इस स्वरूप में सर्वथा शान्ति या निस्तब्धता ही थी, परन्तु यह नीरवता आने वाले तूफान की व्यञ्जकमात्र थी। प्रसिद्ध ऐतिहासिक जेम्सलयाल ने दूर दृष्टि से इस आने वाले तूफान को पहिचाना और आश्चर्य प्रकट किया कि जिस वैदिक धर्म को यूनानी तथा इस्लामी आक्रमण नष्ट न कर सके, उसकी इस युग में ऐसी हीनावस्था क्यों कर होसकती है। उसने भविष्य वाणी की, कि अवश्य कोई न कोई महापुरुष इस देश में जन्म लेने वाला है जो इस बढ़ती हुई धर्मग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान का प्रतिकार करेगा। जेम्स लयाल की वह भविष्य वाणी सत्य निकली इस देश में एक ऐसे दिव्य व्यक्ति ने जन्म लिया कि जिसने सोती हुई भारत जाति में हलचल मचादी, जिसके कारण उसे अपनी शताब्दियों की निद्रा से उठना ही पड़ा और भूले हुए सत्य सनातनधर्म का पुनः आश्रय लेना ही पड़ा।

एक उच्च ब्राह्मण कुल में बालक मूलशंकर का जन्म हुआ। वह संसार के मिथ्या सुखों से खिन्न होकर सच्चे आनन्द की गवेषणा में घर से बाहर निकल पड़ा। वह जंगलों में भटकता फिरा। उसे भूख, प्यास आदि अकथनीय व्यथाओं का सामना करना पड़ा, परन्तु वह वीर आगे ही बढ़ता चला

गया। "कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्।" की अविचल धारणा से वह अपनी लक्ष्यसाधना में निरन्तर एकदम भी पीछे वापिस न हटा। उसने गहन गुफाओं में जाकर सिद्ध महात्माओं के दर्शन किये उनसे शिक्षा ग्रहण की, परन्तु उसके वेदनाग्रस्त हृदय को शान्ति प्राप्त न हुई। सारा हिमालय छान डाला—एक भी सच्चा गुरु उसे प्राप्त न हुआ, जो उसके संशयापन्न चित्त को सन्तुष्ट कर सके। अन्त में दयामय प्रभु ने उस सच्चे अन्वेषक शिष्य को एक सच्चे गुरु से मिला ही दिया।

यह वृद्ध गुरु नेत्रहीन था। परन्तु वास्तव में प्रज्ञाचक्षु था। वह अपने एकान्त स्थान से सारे विश्व को देखता था—उसका हृदय भी सन्तप्त था। संसार के दुःख से दुःखी था। वह एक सच्चे शिष्य की तलाश में था, सच्चा शिष्य मिल गया। गुरु ने दिल खोल कर विद्यादान दिया। प्राचीन शास्त्रों के सब मर्म योग्य विद्यार्थी ने ग्रहण किये। उसे यथार्थ ज्ञान हुआ। हृदय के सब संशय, चित्त की सब शंकाएं निवृत्त हुईं। उसे अब पता चला कि ईश्वर का शुद्ध स्वरूप निराकार है। उसका प्रतिमाओं में आराधना करना सरासर मूर्खता है। उसकी सन्दिग्ध आत्मा को शान्ति प्राप्त हुई और अन्तःकरण में अनन्त आनन्द लहरें मारने लगा।

गुरु विरजानन्द अपने योग्य शिष्य से अनेक आशाएं कर रहे थे। वे अपने विद्याभण्डार का एक २ रत्न अपने प्रिय विद्यार्थी को अर्पण करते जाते थे। वे चाहते थे कि दयानन्द सच्ची विद्या का प्रचार करें और अन्धकार में भटकते हुए संसार को सन्मार्ग पर लाये। उस समय आर्यजाति पाश्चात्य जड़वाद तथा नास्तिकवाद में बहती चली जा रही थी। पश्चिम में धर्म का नाम निशान न बचा था। धन पूजा के पीछे पड़कर सब अपने आध्यात्मिक ध्येय से दूर हटते जा रहे थे। समाज में अव्यवस्था का राज्य था। धन के विषम विभाग के कारण देश में निर्धनता बढ़ती जा रही थी। पूंजीपतियों तथा श्रमियों के अन्तःकलह पाश्चात्य सभ्यता को संसार की आंखों में पतित तथा हीन कर रहे थे। तात्पर्य यह कि पूर्व तथा पश्चिम में सर्वत्र अधार्मिकता, पाप और अन्धकार का राज्य था। आवश्यकता थी कि ऐसे घोर समय में सन्तप्त आत्माओं को शान्त कर सन्देश पहुँचाया जाय। यह शान्ति का अमर उपदेश और कहां उपलब्ध हो सकता था? वैदिक पवित्र धर्म ही ऐसा था जहां संसार के सच्चे सुख का मार्ग प्रदर्शित किया गया था। परिव्राजक विरजानन्द इस बात को अच्छी तरह समझते थे और अपने दीक्षित शिष्य से यही आशा करते थे कि वह सत्यधर्म-प्रकाशन का पुण्य व्रत ग्रहण करें और जगत् के एक २ कोने में जाकर प्राचीन विलुप्त आर्यधर्म का सन्देश पहुँचाएं। शिक्षा काल समाप्त हुआ। समावर्तन संस्कार प्रारम्भ हुआ गुरुने अपने शिष्यों से दक्षिणा मांगी। तीन शिष्य और भी थे। केवल दयानन्द गुरु की मनोवाञ्छित दक्षिणा देने के लिये उद्यत हुआ। शेष तीनों ने अपनी असमर्थता प्रकाशित की। गुरु की इच्छा थी कि उसका एक २ शिष्य एक २ वेद लेकर एक एक दिशा में चल पड़ेगा और वैदिक धर्म की पवित्र गूंज संसार के कोने २ में पहुँचा देगा; परन्तु गुरु की इच्छा पूर्ण न हुई। तब दयानन्द ने अकेले खड़े होकर चतुर्दिक में आजीवन वेद प्रचार का अविचल व्रत

धारण किया और आचार्य के चरणों पर स्पर्श करके जगत् के अन्धकार में प्रवेश किया।

दयानन्द अकेला था चारों तरफ धर्मान्धता की भी भीषण सेनायें शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित खड़ी थीं। आग के गोले बरस रहे थे। पाप और अन्धविश्वास, रुढ़ियों भ्रान्तियों तथा कुप्रथाओं की फौज के साथ अधर्म-गढ़ की रक्षा कर रहे थे कि कोई विद्रोही उसमें प्रवेश न कर जाए। धन का सारा प्रताप दयानन्द के विरुद्ध था शारीरिक शक्ति का प्रयोग स्वयं दयानन्द उचित न मानता था। धर्मप्रचार में बलात्कार उसे सर्वथा अभीष्ट न था। वह आत्मिक प्रचण्डता से कट्टरता का अधःपतन करना चाहता था। दयानन्द को अपने ध्येय में आशातीत सफलता हुई। वह युद्ध में विजयी रहा। जहां गया वहां कठोर सांमुख्य किया। धर्मान्धता के गढ़ में पहुंच कर आह्वान किया। वह अकेला था अनन्त सेना में केवल ईश्वर सहायक था। बड़े २ दिग्गज पण्डितों ने शास्त्रार्थ किये परन्तु दयानन्द की प्रचण्ड विद्वत्ता के सामने उन्हें अपना सिर नीचा करना पड़ा। उसकी धुरन्धरता की धाक सारे आर्यावर्त्त में बैठ गई। उसकी शास्त्र-कुशलता का लोहा सारा भारत वर्ष मानने लगा। वैदिक धर्म का प्रचार बढ़ता चला गया। आर्यसमाज एक जीवित संस्था स्थापित होगई। देश में इस संस्था ने अपनी प्रबल सत्ता कायम करली। स्थान २ पर इसकी धूम मच गई तथा इस का प्रवर्तक महर्षि दयानन्द संसार के कोने २ में विख्यात हो गया। केवल १९ वर्ष के छोटे से काल में आर्यसमाज को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि तत्कालीन प्रमुख दैनिक पत्र "पायोनिअर" को ऋषि की मृत्यु के समय में लिखना पड़ा कि संसार के धार्मिक इतिहास में आर्य समाज ने बहुत ही पूर्व सर्व स्वीकृत स्थान प्राप्त कर लिया था।

इतनी सफलता महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन काल में ही प्राप्त करली थी। समस्त विश्व के लिये वह एक अमर सन्देश लेकर आया था। यद्यपि महापुरुष भौतिक दृष्टि से हम लोगों से अलग हो गया तथापि उसकी आत्मा आजतक जगत् में जीवित है और अबतक संसार निवासियों के कल्याण पथ का प्रदर्शन कर रही है। पण्डित विशननारायण पर जो १९१२ में राष्ट्रीय महासभाके सभापति निर्वाचित हुए, के निम्न ऐतिहासिक वचन इस विषय में विशेष उल्लेख योग्य है।

"बंगाल ने राजाराम मोहनराय जैसा अन्य कोई पुरुष पैदा नहीं किया। यद्यपि केशवचन्द्र सेन पीछे उत्पन्न हुए जिनकी धार्मिक ज्योति से सैंकड़ों नरनारियों ने आत्मिक लाभ प्राप्त किया तथापि पूर्व महापुरुष अपने में अद्वितीय था, परन्तु उत्तरीय भारत के एक अन्य अप्रतिम व्यक्ति का जन्म हुआ, जिसका यदि असामयिक अन्त न होता तो निश्चय मृतप्रायः हिन्दु धर्म में एक लम्बे काल के लिये पुनः नवीन जीवन का संचार हो जाता। भिन्न २ विचारक उसके दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद रखते हैं, परन्तु इस विषय में सब एकमत हैं कि उसके धार्मिक उपदेशों तथा क्रियात्मक जीवन ने हिन्दु सभ्यता पर गहरा प्रभाव डाला है। वेदों की जातीयता को पुनर्जीवित करके इस महापुरुष ने हिन्दुसमाज में नवीन रक्त का संचार कर दिया है। आर्यसमाज एक अंश में ब्राह्मसमाज से अधिक सफल तथा महान् समाज है। इसके आदर्श जातीय हैं। इसके सुधारों का उद्देश्य

साधारण जनता का उपकार करना है। अतः स्वामी दयानन्द इस युग के अद्वितीय मौलिक सुधारक हैं—जिन्होंने पाश्चात्य प्रभावों से कुछ भी ग्रहण नहीं किया। प्रत्युत प्राच्य आदर्शों को ही पुर्नजीवित करने का प्रयत्न किया है। उत्तरीय भारतवर्ष में विशेषतः पंजाब और राजपूताना में यदि हिन्दु आंगलभाषा का एक शब्द भी न जानते हुए मूर्ति-पूजन का विरोध करते हैं तथा जन्मानुसार वर्णव्यवस्था पर विश्वास नहीं करते तो यह महर्षि दयानन्द का ही एकमात्र प्रभाव है। यदि इन प्रान्तों के निवासी, आज अपनी प्राचीन संस्कृति का गौरव करते हैं अर्वाचीन कुरीतियों तथा कुप्रथाओं में श्रद्धा नहीं रखते, यदि वे विधवा-विवाह, स्त्रीशिक्षा, समुद्रयात्रा आदि विषयों पर उदारता से अधिक विचार सकते हैं, यदि उनमें आगे से अधिक संगठन शक्ति है। यदि उनमें जातीयता के भाव कूट २ कर भरे हुए हैं, यदि वे राजनैतिक जागृति में अग्रसर होकर जारहे हैं तो इन सब का श्रेय केवल अप्रतिम नायक महर्षि दयानन्द को ही है। संसार के अन्य महापुरुषों की तरह इस महापुरुष को भी अपने विचारों की नूतनता के लिये अकथनीय संकट उठाने पड़े। देश की कट्टरता ने इसका स्थान २ पर विरोध किया, परन्तु यह महान् सुधारक आगे ही बढ़ता गया। और उसने निन्दा वा स्तुति अपमान वा सन्मान की तनिक भी पर्वाह न की। यही कारण है कि महर्षि का कार्य इस देश में सम्पन्न हुआ—उसका ध्येय सम्पूर्ण हुआ। निःसन्देह सत्य की विजय होती है और भारत वर्ष में दयानन्द का सत्यधर्म सदा विजयी हो रहा।

हां, दयानन्द का सत्य-धर्म विजयी रहा। दयानन्द अर्वाचीन भारत का निर्माता है, वह आधुनिक नवीन युग का प्रवर्त्तक है। उसकी महान् आत्मा वर्तमान राष्ट्रनायकों तथा सुधारकों से वे कार्य करा रही है जो वह स्वयं भौतिक शरीर के साथ ५० वर्ष पूर्व करती थी।

दयानन्द सर्व प्रथम था, जिसने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली अथवा शिक्षा में आश्रमपद्धति का समर्थन किया है। आज संस्था के समस्त शिक्षाविज्ञ इसी आश्रमपद्धति को आदर्श शिक्षा प्रणाली बताते हैं। ऋषि दयानन्द ने २५ वर्ष तक विद्यार्थियों के लिये ब्रह्मचर्यपालन का उपदेश किया। आज बड़ौदा, मैसूर आदि उन्नतिशील रियासतों तथा बृटिश भारतवर्ष में भी बाल्यविवाह के विरुद्ध कानून पास किये गये हैं।

महर्षि ने अपने जीवन से शुद्ध स्वदेशी व्रत का प्रचार किया और समकालीन राजाओं महाराजाओं को देश भक्ति के भावों का उपदेश किया। आज राष्ट्रीय महासभा सचमुच उसी दूरद्रष्टा ऋषि के पदचिन्हों पर चल रही है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सत्यार्थप्रकाश" में स्वामी दयानन्द ने निःशुल्क बाधित शिक्षा का समर्थन किया। इस आशय को स्वनामधन्य देशसेवक गोखले ने अपनाया और आज उनके आन्दोलन द्वारा निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा, भारतीय सरकार की स्वीकृत नीति बन चुकी है।

ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य प्रणाली भी निस्सन्देह क्रान्तिकारी थी। पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रणाली को पहिले तो अप्राकृतिक, असम्भव तथा बेहूदा बतलाया, परन्तु उन्होंने पीछे जाकर, उसकी वैज्ञानिकता तथा सतर्कता को स्वीकार किया। स्वामी

दयानन्द सर्वप्रथम भाष्यकार थे, जिन्होंने वेदों को सब सत्य विद्याओं का आदि स्रोत घोषित किया और उनमें आधुनिक विज्ञान के बीजों को प्रदर्शित किया। यह स्थापना सचमुच नवीन थी और पूर्व तथा पश्चिम के सब विचारकों ने इसे सर्वथा निराधार कहकर टाल दिया। परन्तु शनैः २ इस स्थापना ने अपना स्थान प्राप्त किया और आज अनेक विद्वान् ऐसे हैं जो एकमत महर्षि के साथ हैं कि वेदों में वैज्ञानिक तत्वों का होना सम्भव ही नहीं आवश्यक भी है। लेखक अनेक विद्वानों की सम्मतियों में से केवल चार सम्मतियां नीचे उद्धृत करता हैं।

विद्वान् लेखक श्री परमशिव एयर का अपनी पुस्तक 'ऋक्' में कथन है। वैदिक तथा ब्राह्मणसाहित्य की पूर्ण तथा निश्चित मीमांसा के लिये आवश्यक है कि मीमांसक, तीव्रबुद्धि, वैज्ञानिक विवेचना, एवं भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, कृषि विज्ञान, ज्योतिष तथा अन्य पर्वतविद्या आदि के क्रियात्मक तथा सैद्धान्तिक विशेष ज्ञान से सर्वथा परिचित हो। इन विज्ञानों की सहायता के बिना उक्त साहित्य का समझना संभव नहीं।

श्रीयुत मोजी एम० ए० अपनी कृति Vedic Father of Geology."—में लिखते हैं।

" मैं स्वीकार करता हूं कि भूगर्भविज्ञान के सम्बन्ध में कोई विशेष पुस्तक ऐसी उपलब्ध नहीं होती जिससे हमें यह पता लग सके कि प्राचीन समय में इस विज्ञान का पर्याप्त परिचय था। परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी, ऐसी साक्षियां तथा संकेत पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं, जो भारतीय साहित्य में विशेषतया वेदों में यत्र तत्र बिखरे हुए पड़े हैं, जिनसे यह स्पष्टतया विदित होता है कि प्राचीनकाल के वैदिक ऋषि भूगर्भ विद्या का गम्भीर ज्ञान रखते थे।"

श्रीयुत अरविन्द घोष प्रसिद्ध पत्रिका "आर्य" में निम्न विचार प्रकट करते है:—"प्राचीन भारतीय संस्कृति में कितने ही वैज्ञानिक तत्व अन्तर्हित थे। उन में से कुछ तत्वों को आधुनिक विज्ञान द्वारा, पुनराविर्भाव तथा विस्तार किया गया है परन्तु ऐसे कई मर्म अब तक अन्धकार में अन्तर्लीन हैं जिनको प्रकाश में नहीं लाया जा सका। अतः महर्षि दयानन्द की इस स्थापना में कोई विचित्रता नहीं कि वेदों में सब वैज्ञानिक सत्य अन्तर्निहित हैं। मेरा अपना भी निश्चित विश्वास है कि वेदों के गर्भ में ऐसे कितने ही वैज्ञानिक रहस्य छिपे हुए हैं, जिनका ज्ञान अर्वाचीन जगत्को बिलकुल नहीं। मेरी सम्मति में दयानन्द ने अत्युक्ति ही नहीं कि प्रत्युत न्यूनोक्ति की है कि वेदों में सब सत्य विद्याओं के बीज विद्यमान है।" अन्तिम उद्धरण प्रो० भीमचन्द्र चटर्जी का है। उनका कथन अपनी पुस्तक "Economic Botany of India" में इस तरह से है कि—प्राचीन वैदिक ऋषियों को Photo syn theris का ज्ञान था और वे जानते थे कि प्रकाश किरणों का वनस्पति जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है।

प्रसिद्ध विद्वान् विनयकुमार सरकार का भी यही मन्तव्य है कि प्राचीन वैदिक ऋषि, इस वैज्ञानिक तत्व को अच्छी तरह समझते थे कि सूर्य समस्त शक्तियों का केन्द्र है और उसी प्रकाश स्रोत से वनस्पति जगत् में अग्नि का प्रसुप्त समावेश होता है, जिसका प्रादुर्भाव ज्वालारूप में कभी २ हो जाता है।

यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों का

प्रचार समस्त शिक्षित संसार में होता चला जारहा है। मनुष्य जाति का इतिहास १९ वीं शताब्दी के इस महान् विचारक के विचारों से स्पष्टतया प्रभावित हो रहा है। दयानन्द वह अप्रतिमशक्ति था जिसका प्रबल प्रवाह जगत् की सब मलीनताओं को दूर कररहा है। आर्य समाज सफल हो या न हो परन्तु वैदिक धर्म अवश्य सफल होकर रहेगा। दयानन्द को प्राचीन वैदिकआदर्शों का पुर्नजीवन अभीष्ट था। आज, सारा सभ्य संसार उन्हीं आदर्शों का अनुकरण कर रहा है। इसी में दयानन्द की विजय है-इसी से वैदिक धर्म की विजय है। संस्थाएं उत्पन्न होंगी और मिट जाएँगी-परन्तु दयानन्द का वैदिक सन्देश अमर रहेगा और उसके साथ दयानन्द का नाम भी सृष्टि के इतिहास में सदा के लिये अमर रहेगा।

भिखारी

[ले० -ब्र० सोमदेवजी एकादश श्रेणी गुरुकुल कांगड़ी]

करुण कलाविद ए! भिक्षुक,
तुम किसे रिझाने के उपचार।
किये हुए बैठे हो थल पर
निर्धन अपने हाथ पसार ॥ १ ॥

वस्त्र हैं खण्डित धूं में मण्डित
नए नए सज साज।
कहां रह गई, क्या अतीत में-
वसुधा सुखदा आज ॥ २ ॥

पुत्र कलत्र सुहृदबन्धु का
तज कर सब आनन्द।
आस लगाए किसकी बैठे
करते हो आक्रन्द ॥ ३ ॥

क्या न तुम्हें है ज्ञात कि
इतना निष्ठुर है संसार।
भेंट रूपा में तुमको देने
अश्रु-विन्दु दो चार ॥ ४ ॥

हाय न देखा जाता मुझसे
अब तेरा यह सकरुण वेष।
कुछ देने की अभिलाषा है,
लूट लिया पर स्नेह अशेष ॥ ५ ॥

अब भी खड़े हुए हो बनकर
पत्थर से तुम मेरे द्वार।
मूक हुए मानो कहते हो
सार हीन है यह संसार ॥ ६ ॥